युगान्तकारी परिवर्तन के रूप में द्वितीय नगरीकरण : ऐतिहासिक अवलोकन

Sarvesh Singh,
Department of ancient history, culture and archeology.
University of allahabad

प्राचीन भारतीय इतिहास में द्वितीय नगरीकरण एक महत्वपूर्ण परिघटना थी। प्रत्येक काल में आर्थिक परिवर्तन, विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक विकास के स्थायी उत्प्रेरक के रूप में सिद्ध हुए हैं। द्वितीय नगरीकरण कोई अकस्मात होने वाली घटना नहीं, अपितु सुदीर्घ काल से हो रहे लघु परिवर्तनों का संगठित एवं व्यवस्थित प्रतिफल थी। कालान्तर की समस्त साम्राज्यिक शक्तियों के उत्थान में यह सदैव आधार भूमि के रूप में रही। 'शहरी जीवन का प्रारम्भ ईसा से 500 साल पहले के लगभग हुआ, पर यह ई0पू0 200 और ई0 सन् 300 के बीच पराकाष्ठा पर पहुँचा।[1] नगरीकरण इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था कि काफी लम्बे समय तक यह नगरीय व्यवस्था बनी रही। इसी काल में साहित्य की लेखन परम्पराओं का प्रारम्भ हुआ। तत्कालीन साहित्य में राजगृह, श्रावस्ती, काशी आदि नगरों की जानकारी मिलती है। प्राचीन भारतीय साहित्य में शहर के लिए सर्वाधिक नगर शब्द मिलता है।[2]

तत्कालीन् नगरों को परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। आज के शहरी जीवन के आधार पर उस समय के नगरों की सामान्य रूपरेखा बनायी जा सकती है। मूलतः शहर में ऐसे लोगों का बाहुल्य होता था, जो खेतिहर नहीं थे। अतः शहर के समीपवर्ती क्षेत्रों में जब तक काफी मात्रा में खाद्य पैदा नहीं हो तब तक शहर में रहने वालों के भोजन का प्रबंध नहीं हो सकता था। इस प्रकार शहर में बड़ी आबादी नहीं रह सकती। प्राचीन भारत के नगरों में शिल्प और व्यापार का बड़ा महत्व था। शहरों और ग्रामों के भौतिक जीवन में कुछ अंतर होता है। यह ठीक है कि सामाजिक असमानता शहर और ग्राम दोनों में पायी जाती है, किन्तु कुछ ऐसी वस्तुयें हैं जो कीमती मानी जाती हैं, और जिनका उपयोग शहर के समृद्ध लोग ही करते हैं। इस प्रकार की वस्तुओं का

इस्तेमाल ग्रामीण इलाकों में भी हो सकता है, किन्तु उतने बड़े पैमाने पर नहीं जितना शहर में। ऐसा लगता है कि शहरी जीवन का भौतिक स्तर ग्राम्य जीवन के स्तर से ऊँचा होता था। शहरों का उदय कई कारणों से होता है। किसी स्थान पर राजधानी कायम होने से या किसी प्रकार का प्रशासनिक केन्द्र स्थापित होने से वह स्थल शहर का रूप ले लेता है। फौज की स्थायी छावनी रखने से भी यह बात होती है। यदि कोई स्थान यातायात का केन्द्र होता है तो वहाँ भी शहर बस जाता है। शिल्पियों और व्यापारियों के काफी संख्या में एकत्रित होने से भी शहर का उदय अवश्य हुआ होगा। तीर्थस्थल अथवा बड़े मन्दिरों के होने से भी शहर निर्मित हो सकता है।

छठी शताब्दी ई0पू0 के नगरीकरण में लौह प्रौद्योगिकी की महत्वपूर्ण भूमिका थी। लोहे के औजारों और उपकरणों का उपयोग युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए, और निश्चय ही जंगलों को साफ करने तथा ज्यादा से ज्यादा जमीन को कृषि के अन्दर लाने, जुताई को और गहरा बनाने तथा इनके परिणामस्वरूप नई बस्तियों की संख्या में विस्तार करने के लिए हो रहा था।[3] डी0डी0 कौशाम्बी और आर0एस0 शर्मा जैसे विद्वान लौह प्रौद्योगिकी के क्रांतिकारी प्रभाव तथा द्वितीय नगरीकरण में इसकी भूमिका को निर्णायक कारक के रूप में घोषित कर चुके हैं। 1000 ई0पू0 के आस–पास भारतीयों को लोहे को पिघलाने की कला का ज्ञान हुआ। उज्जैन, श्रावस्ती और हस्तिनापुर से बड़ी संख्या में लोहे के उपकरण एवं औजार प्राप्त हुये हैं। विशेषकर लोहे के हथियारों का प्रयोग काफी बड़े स्तर पर होने लगा, जिसके कारण क्षत्रियों तथा किसानों की शक्तियों में वृद्धि हुयी। लोहे के हथियारों ने युद्ध विजय तथा लूट–पाट की भूख को और बढ़ाया।

लोहे के प्रयोग का अर्थव्यवस्था पर भी प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। कुल्हाड़ी से मध्य गंगा घाटी के जंगलों को साफ किया गया। लोहे के फाल वाले हल से कृषि कार्य को करने में सुविधा हुयी। यह मध्य गंगा घाटी में काफी उपयोगी था, जहाँ पर रोपाई द्वारा धान की खेती की जाती थी। धान की रोपाई भी इस काल में विकसित हो चुकी थी। यह सर्वविदित तथ्य है कि तराई (चावल की खेती वाले) क्षेत्र में पैदावार गेहूँ या मोटे अनाजों की परंपरागत कृषि से पर्याप्त मात्रा में अधिक थी। हल के लिए पाणिनि ने हल शब्द का ही प्रयोग किया, तथा खेत को दो या तीन बार जोतने की सूचना

दी है।[4] चावल उत्पादक मध्य गंगा घाटी में, गेहूँ उत्पादक ऊपरी गंगा घाटी की तुलना में अधिक अनाज का उत्पादन होता था। इस प्रकार एक बार जब किसानों के पास अपने परिवार के भरण–पोषण से अधिक पैदावार होने लगी, तो इस अधिशेष द्वारा शहर में रहने वाले शासकों, पुरोहितों, शिल्पियों, कारीगरों तथा सिपाहियों का भी पेट भरा जाने लगा। यह अधिशेष शहर में रहने वाले लोगों को या तो कर के रूप में मिलता था या पुरोहितों को दान–दक्षिणा के रूप में तथा गाँव और शहर के बीच असमान व्यापार में होने वाले मुनाफे के रूप में। शहर में रहने वाले शासक ग्रामीणांचल से कर वसूल कर लाते थे और उसे वेतन, पारिश्रमिक तथा दक्षिणा के रूप बांटते थे। अर्थात यह है कि मध्य गंगा के जलोढ़ मैदानों में शहरों के उदय के लिये अनुकूल पृष्ठभूमि निर्मित हो गई। यह मैदान सिंध और पंजाब के सूखे और नीरस परिवेश से भिन्न था।

धातु के सिक्के का प्रयोग भी नगरीकरण का एक प्रमुख लक्षण है। ऐसे तो सिक्कों का अपने आप में कोई विशिष्ट महत्व नहीं है, परंतु यह मुद्रा प्रचलन नये प्रकार की आर्थिक गतिविधि की द्योतक है। सिक्कों के प्रचलन से समाज में उत्पादन और वितरण पर प्रकाश पड़ता है। अनाज और कारीगरी के बने समान के वितरण में बिचौलियों की भूमिका प्रारम्भ होती है। तात्पर्य यह है कि सिक्कों के इस्तेमाल से व्यापार में बहुत वृद्धि हुई। मुद्रा प्रचलन से विनिमय अथवा लेन–देन बहुत आसान हो गया। गाय–बैल को मुद्रा बनाकर यह काम नहीं हो सकता था। धातु के सिक्के आसानी से नष्ट नहीं होते थे। उन्हें जोड़ा और घटाया जा सकता था। इससे हिसाब–किताब रखना सुगम हो गया। सिक्कों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में कठिनाई नहीं थी, किन्तु गाय–बैलों को ले जाना बहुत कठिन था। सिक्कों के कारण नकदी कर वसूला जा सकता था और राज्याधिकारियों को नकदी वेतन देकर उन्हें अधीन रखा जा सकता था। सिक्कों के आने से खून के रिश्ते कमजोर हो गये और पैसे के रिश्ते मजबूत। राजा के लिये सगे सम्बंधियों पर निर्भर रहना अब आवश्यक नहीं रहा। पैसे देकर वह योग्य व्यक्तियों को भर्ती कर सकता था। ध्यान देने योग्य यह है, कि मध्य गंगा के किनारे बसे शहरों में सिक्कों का प्रचलन काफी मात्रा में हो गया जबकि सैंधव संस्कृति में मुद्रा प्रचलन का स्पष्ट साक्ष्य नहीं प्राप्त होता है।

नगरों के समुचित विकास में सुरक्षा की भावना भी एक महत्वपूर्ण कारक थी। कुछ नगरों को दीवार द्वारा आपस में कई भागों में विभाजित कर दिया जाता था और सुरक्षा की दृष्टि से इसके दरवाजे रात में बंद हो जाते थे। इस प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था का स्वरूप कौशाम्बी में देखने को मिलता है।[5] छठीं शताब्दी ई0पू0 में नगरों का भौतिक जीवन पूर्णतः विकसित अवस्था में था, इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है। मकान लकड़ियों से भी बनते थे। मौर्यकाल के पहले पकी ईंटों का प्रयोग मकान बनाने में नहीं होता था। किन्तु शहरी जीवन के ऊँचे भौतिक स्तर की पहचान पॉलिशदार काले रंग के बर्तन (NBPW) और चांदी के आहत सिक्कों से होता है। साथ ही साथ बेशकीमती पत्थर के बने छोटे–छोटे मनके भी मिलते हैं। लोहे के भी औजार पाये जाते हैं और भट्टियाँ भी मिलती हैं। मौर्यकाल के आते–आते छल्लेदार कुएं भी मिलते है। घनी आबादी के इलाकों में मिट्टी के पक्के छल्लों से घिरे हुये कुँए जैसे गड्ढे भी मिलते हैं। इनका इस्तेमाल शौचालय के रूप में होता था या गंदे पानी और कूड़े को जमा करने के लिये। पालि ग्रन्थ बतलाते हैं कि गौतम बुद्ध के काल में विभिन्न प्रकार के शिल्पी और व्यापारी नगरों में बसते थे और उनकी अपनी–अपनी गली होती थी। श्रेणी और निगमों में इनका संगठन भी होता था। 'रीजडेविड्स ने तत्कालीन साहित्य के आधार पर 18 श्रेणियों का उल्लेख किया है।[6] मीताक्षरा में नगर अथवा ग्राम में रहने वाले विभिन्न जातियों तथा व्यवसायों के संघ को पूग कहा गया है।[7] निगम का शाब्दिक अर्थ है बाहर जाना। पालि भाषा में शहर को निगम कहा गया है और गाँव को जनपद। निगम और जनपद शब्द पालि ग्रन्थों में बार–बार प्रयुक्त हुये हैं।

शिक्षा ने भी कई नगरों के अभ्युदय में महत्वपूर्ण योगदान दिया। तक्षशिला एक प्रमुख शैक्षिक केन्द्र था। सारनाथ, तक्षशिला के बराबर तो नहीं, परन्तु दूसरा महत्वपूर्ण शैक्षिक केन्द्र था।[8] उत्खनन से पता चलता है कि इस समय तक केवल मध्य गंगा के मैदानों में ही नहीं बल्कि पूर्वोत्तर हिस्सों को छोड़कर लगभग सारे देश में नगर बस गये थे। यही समय था जब देश का रोम के साथ समृद्ध व्यापार चल रहा था। इन्हीं समकालीन परिस्थितियों में कुषाणों ने मध्य एशिया और भारतीय उपमहादेश को एक सूत्र में बांध रखा था। चीन से चलकर पश्चिम और यूरोप जाने

वाले रेशम मार्ग (सिल्क रूट) का बड़ा भाग कुषाण साम्राज्य में पड़ता था। इस रास्ते से कच्चे रेशम और उसके कपड़े का व्यापार होता था। इसमें से कुछ माल अफगानिस्तान होकर भारत आता था और भृगुकच्छ बंदरगाह से बाहर जाता था। ईसा की दो प्रथम शताब्दियों में रोम के साथ बड़े पैमाने पर व्यापार चलता रहा और इसी समय दक्षिण–पूर्व एशिया के साथ भी व्यापार होता रहा। मध्य एशिया के साथ व्यापार होने के कारण उत्तरी भारत के नगरों का विकास हुआ तथा रोम और बर्लिन–पूर्व एशिया के साथ व्यापार के कारण दक्षिण भारत के शहरों का उत्थान हुआ।

इस प्रकार छठी शताब्दी ई0पू0 में नगरों की उत्पत्ति दो निर्णायक प्रक्रियाओं का परिणाम थी। जिसमें प्रथम है, मनुष्य का प्रकृति के साथ सम्बन्ध। अर्थात लोहे का उपयोग और धान की रोपाई की तकनीकी की जानकारी हो जाना। जिसके कारण गंगा घाटी के क्षेत्र में लोगों ने कृषि पैदावार बढ़ाने में सफलता प्राप्त कर ली। दूसरी प्रक्रिया थी, छठी शताब्दी ई0पू0 में समाज की आंतरिक संरचना में परिवर्तन होना। तात्पर्य यह है कि शासक जातियां व्यापारिक वर्ग के साथ मिलकर अतिरिक्त खाद्य उत्पादन एवं अन्य सामाजिक प्रतिष्ठानों पर अधिकार प्राप्त कर लेते थे। जिन स्थानों पर धनी व ताकतवर लोग रहते थे, उनको शहर या नगर कहा जाता था। इन लोगों की उपस्थिति का अर्थ था कि, उन स्थानों पर पूर्व से ही बड़ी संख्या में गरीब लोगों की उपस्थिति का होना। इसी कारण कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध धर्म की उत्पत्ति इसी नगरीय दरिद्रता के कारण हुई। प्राचीन भारतीय संहिता ने नगरों को पाटन व नगर जैसे विभिन्न शब्दों से निरूपित किया गया है। साहित्य में नगरों के ऐश्वर्य, वैभव एवं आकार के लिये जो विवरण मिलता है, वह अतिरंजित प्रतीत होता है। प्राचीन नगर स्थलों के पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि, यह साहित्यिक विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। साहित्यिक साक्ष्यों में वर्णन पूर्वाग्रह से कुछ न कुछ अनिवार्यतः ग्रसित हो जाता है, ऐसी स्थिति में वस्तुनिष्ठता को सुनिश्चित करना सदैव चुनौतीपूर्ण रहता है, तथापि द्वितीय नगरीकरण के समस्त पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य नगरीकरण के आदर्श मानकों का सम्यक बोध कराते हैं। समेकित रूप में द्वितीय नगरीकरण भारतीय अतीत की क्रान्तिकारी एवं समय प्रवर्तक परिघटना प्रतीत होती है।

संदर्भ ग्रन्थ–

1. शर्मा, रामशरण, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, 1992, हि0मा0का0 निदे0, दिल्ली वि0वि0, दिल्ली, पृ0 185
2. घोष, ए0, द सिटी इन अर्ली हिस्टॉरिकल इण्डिया, शिमला, 1973, पृ0 45
3. झा0, डी0एन0, आरंभिक भारत का संक्षिप्त इतिहास, 2009, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 80
4. अग्रवाल, वासुदेवशरण, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वाराणसी, 1969, पृ0 468
5. शर्मा, जी0आर0, एक्सकेवेशन एट कौशाम्बी, मेयॉमर्स आर्कियोलॉजिकल सर्वे आव इण्डिया नं0 74, दिल्ली, 1968, पृ0 27
6. रीज डेविड्स, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड–1, पृ0 90
7. मीताक्षरा, 2.31, पूगाः समूहा भिन्न जातीनां भिन्न वृत्तिनामेक स्थान निवासिना यथा ग्रामन गरादय।
8. राय, उदय नारायण, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद, 1998, पृ0 134